सत्यांश

स्वतंत्र भारत की दो बड़ी उपलब्धियाँ मानी जाती हैं। पहली, लोकतंत्र के सांस्थानिक ढाँचे का विकास-विस्तार और दूसरी, लंबे समय से हाशिए पर रहे लोगों की सत्ता में भागीदारी व केन्द्र की ओर प्रस्थान। यदि ये दोनों कार्य ईमानदारी से निष्पादित होकर निरंतर विकसित हुए होते तो भारतवर्ष की कुल समस्या का समाधान कब कर हो गया होता। लोकतंत्र की स्थापना का ध्येय पूरा होते चलता। यद्यपि स्वतंत्रता संघर्ष एवं उसके ठीक बाद उक्त दोनों मोर्चो पर ध्यान देने की आवश्यकता महसूस की गई थी, तभी संविधान-निर्माताओं ने उसका प्रावधान लिखित रूप में किया। एक सीमा तक आरंभ उतना त्रुटिपूर्ण नहीं था, जितना समय बीतने के साथ इसमें अवगुण समाते गए और आज दोष ही दोष दिखाई दे रहा है। पूरा ढाँचा और प्रशासनिक प्रणाली लोकतंत्र की अपेक्षाओं को दरकिनार कर एक अनैतिक, समस्याग्रस्त, बीमार व्यवस्था में तब्दील हो रही है। इस पर सर्वत्र शोर भी सुनाई दे रहा है। जिम्मेवार व्यक्तियों से लेकर बुद्धिजीवी तक इस बात की खुलेआम घोषणा कर रहे हैं कि हमारा लोकतंत्र न केवल लक्ष्य से भटका है, अपितु एक ऐसी विपरीत दिशा की ओर अग्रसर है, जहाँ से लोकतंत्र के वास्तविक सरोकारों की ओर लौटना मुश्किल है। वापसी भी तो तब हो सकती है जब दृढ़ इच्छा शक्ति, मजबूत संकल्प और उसे साकार करने वाले नेतृत्व का सुदृढ़ तंत्र हो। परंतु समस्या यह है कि जिन लोगों को ऐसी पहल करनी चाहिए, उन्हें इसकी जरूरत ही महसूस नहीं होती है और यदि होती है तो ऐसा करने की इच्छाशक्ति नहीं दिखती। सच तो यह है कि इस स्थिति के सर्वाधिक जिम्मेवार यही लोग हैं, तो फिर इन्हें पहल करने की जरूरत भी भला क्या है? इसी व्यवस्था से ये लोग लाभान्वित होते रहे हैं। भविष्य में भी इसी व्यवस्था से ये सत्ता और सत्ता से अन्य चीजें हासिल करेंगे। ऐसा नहीं है कि इनमें सारे यथास्थितिवाद के पोषक ही हैं, बल्कि कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें यह सब खटकता है; परंतु वे इस व्यवस्था के 'शिष्ट-सभ्य' अंग होने के कारण मजबूर हैं सुपरिवर्तन हेतु कुछ न करने के लिए। दिनकर जी के शब्दों में-

सच है सत्ता सिमट-सिमट जिनके हाथों में आई,
शांतिभक्त वे साधुपुरुष क्यों चाहे कभी लड़ाई?

वस्तुतः जिन्हें अच्छा तंत्र बनाना चाहिए था, उन्होंने इसे कुव्यवस्था में परिवर्तित कर दिया है। आज आलम यह है कि वे खुद भी चाहें, तब भी सुव्यवस्था लाना मुश्किल है। थोड़ी-बहुत इस दिशा में कदम उठाते हुए जरूर दिख सकते हैं। आजकल दिन-प्रति-दिन घोटाले उजागर हो रहे हैं। ये तरह-तरह के हैं जैसे रिश्वतखोरी, कामचोरी, दायित्वहीनता, नियमविरूद्धता, अपनों को लाभान्वित कराना, बेशुमार संपत्ति अर्जित करना। एक या अनेक जगह घोटाले उजागर हों भी जाएँ तो इससे क्या फर्क पड़ता है। संस्थाओं, व्यक्तियों, अधिकारियों, नेताओं पर संवैधानिक व्यवस्था को ईमानदारी से कार्य-रूप देने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी, वही इसकी दुरावस्था के पोषक, संरक्षक और सुविधाभोगी बन गए हैं। निरंतर सुनियोजित रूप से यह पूरा ढाँचा इन्हीं लोगों द्वारा खड़ा किया गया है, फलतः परिवर्तन की किसी भी कोशिश में परंपरा पोषित हमारा यह मूल ढाँचा-संरचना हिले-गिरे बिना नहीं रह सकता।

जिन दो मुद्दों की उपलब्धियों के रूप में चर्चा की गई है, वे उपलब्धियाँ कम, लाइलाज बीमारी की पहचान अधिक बन गई हैं। सांस्थानिक ढाँचों के अन्तर्गत जो लोकतांत्रिक निकाय हैं, उन सबका उद्देश्य तो विशुद्ध लोकतंत्रीय पद्धति से निचले से निचले व्यक्ति को न्यायपूर्ण शासन और सुविधा उपलब्ध कराना था; परंतु ये निकाय खुद अपनी स्वायत्तता या निर्भरता में प्रजातांत्रिक मूल्यों का अपने भीतर ही हनन करते हैं। फलतः इनके माध्यम से जो लक्ष्य पाना था, वह इनके अपने ही अस्तित्व पर भटक कर अटक गया। व्यापक जन समाज चाहे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक पिछड़ेपन का शिकार हो अथवा बेईमानी, कामचोरी, दायित्वहीनता न बरतने वाली 'कमजोरी के पिछड़ेपन' में जी रहा हो, वह इन सांस्थानिक निकायों एवं शासन के विभिन्न अंगों से शोषण, दमन, अन्याय, अत्याचार का शिकार हो रहा है। ये निकाय 'दबाव समूह' बनाकर अपने नितांत सतही स्वार्थों की लड़ाई में उलझे हैं। हमारा लोकतंत्र अनेक स्तरों पर चाहे दल हों, पंचायतें हों, यूनियन या प्रशासन हो, सबके दबाव के सामने व्यापक लोकहितों की अवहेलना करता है। हर स्तर पर प्रेशर बनाने वाले लोग अपने हितों के संरक्षण में जुटे हैं। लोकतंत्र के जिम्मेदार तत्त्व खुद लोकतंत्र के स्वप्न को साकार करने के सबसे बड़े अवरोधक हैं।

हाशिए पर रहे जिन वर्गों-समाजों को सत्ता में भागीदारी मिलने की खुशी व्यक्त की जाती है, वह भी उन्हीं वर्गों-समाजों की कीमत पर हुई है। दमित, कमजोर, उपेक्षित, अवहेलित लोगों के नाम पर बस कुछ ही खास लोग इसका फायदा उठा रहे हैं और लोकतंत्र की राजनीति ऐसी कि यह जानकर भी 'वोट की राजनीति' के लिए सब होने दिया जा रहा है। यदि ऐसा न होता तो आजादी के समय संवैधानिक प्रावधानों एवं नैतिक मानवीय आचरणों जैसी जो शुरूआत हुई थी, उसके बेहतर प्रयोग से आज का कोई भी वर्ग अशक्त, कमजोर नहीं बना रहता। कमजोर तबकों में कुछ लोगों का सबलीकरण हुआ है; परंतु व्यापक जन समाज आज भी उपेक्षित है, उसकी चिंता किसी को नहीं है। बात चाहे गरीबों की हो, या फिर कमजोर-उपेक्षितों की, समाज में इनकी संख्या घटी नहीं बढ़ी है। शोषण-अत्याचार का संदर्भ और रूप परिवर्तित होकर आधुनिक बन गया है। आज भी इस देश में करीब एक-तिहाई लोग ऐसे हैं जिन्हें भोजन, वस्त्र और आवास जैसी बुनियादी सुविधाएँ न्यूनतम रूप में भी उपलब्ध नहीं हैं। इसी से

यह प्रश्न उठता है कि हमने क्या विकास किया है और कितना विकास किया है। सारे चिंतन, शिक्षा, राजनीति, योजना व कार्यक्रम के बावजूद यह समस्या मुँह बाए खड़ी है।

प्रश्न चाहे कमजोर तबकों की हिस्सेदारी का हो, या बुनियादी जरूरतों और लोकतांत्रिक ढाँचे का, यह प्रतीकात्मक होकर रह गया है और हमारी राजनीतिक संस्कृति ने इसी प्रतीक को वास्तविक बनाकर पेश करने का काम किया है, जिसके शिकार होने के कारण आम जनता भी इसी अनुकूलन की स्थिति में है। इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से विकास का पैमाना तय होता है। आखिर क्यों किसी महिला, अल्पसंख्यक, दलित के उच्च पद पर पहुँचने पर उसके संपूर्ण वर्ग के विकास का प्रतीक मान लिया जाता है बेशक इन वर्गों में कुछ चेतना जगती ही क्यों न हो। यदि उक्त पद तक पहुँचने की स्थिति-प्रक्रिया का पता किया जाए तो मालूम चलेगा कि ये कैसे स्थिति-अनुकूलन से गुजरकर वहाँ तक पहुँचे हैं। यदि केवल अपने वर्गीय हितों की चिंता करेंगे तो व्यापक राजनीतिक समर्थन मुश्किल है। दूसरी ओर यह हित जातीय, क्षेत्रीय, सांप्रदायिक न होकर कमजोर, दमित, उपेक्षितों से संबंधित हो तो व्यापक स्वीकृति कारपोरेट, स्वार्थी दल, प्रशासनिक दबाव समूह आदि को छोड़कर मिल सकती है।

इधर कुँआ, उधर खाई

यद्यपि राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस एवं भाजपा के नेतृत्व वाले दो गठबंधन हैं, तथापि वामपंथी पार्टियों व उक्त दोनों दलों से असंतुष्ट कुछ छोटे प्रभावी दलों का एक गठजोड़ प्रत्यक्ष न होकर भी अस्तित्व में रहता है। यह जरूरत के मुताबिक प्रकट होता है। सैद्धांतिक व संगठनात्मक रूप से वामपंथी पाटियाँ अन्य दलों की अपेक्षा पक्की हैं; परंतु कभी कांग्रेस की ओर झुकाव व मौका-बेमौका अन्य छोटे दलों के साथ गठजोड़ करते रहने के कारण इनकी सैद्धांतिक विश्वसनीयता बुरी तरह प्रभावित हुई है। खैर! इस समय कांग्रेस के नेतृत्व में केन्द्र में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार है तो भाजपा के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन विपक्ष में है। हाल ही में यूपीए सरकार के मंत्रिमंडल में फेरबदल हुआ है; परंतु यह संबंधित मंत्रियों व उनके इर्द-गिर्द के लोगों व सामान्य ज्ञान के लिए जानकारी से अधिक उत्सुकतावर्द्धक नहीं है। केन्द्र सरकार द्वारा महँगाई की मार से आम जनता त्रस्त है, डीजल, पेट्रोल सहित रसोई गैस की कीमत अत्यधिक बढ़ी है। गैस के उपयोग की सीमा घटा कर पहले से बढ़े रेट को कई गुणा अधिक कर दिया गया है। याद करें जब केन्द्र में अकेले कांग्रेस की सरकार हुआ करती थी तो टेलीफोन व गैस कूपन के लिए नेताओं के यहाँ लाइन लगती थी। कुछ नेता इन्हें बेचते भी थे। दूसरी ओर सामान्य जनता जो पहुँच के अभाव में नेता-अधिकारियों के चक्कर नहीं लगा पाती थी, वह पाँच-सात साल, कभी दस साल गैस कनेक्शन के लिए इंतजार करती थी और इससे कुछ कम टेलीफोन कनेक्शन के लिए भी। भला तो न हुआ वाजपेयी सरकार का, पर उन्होंने इन दोनों में जल्दी ही प्रतीक्षा सूची खत्म कर दी। लेकिन पुनः मनमोहन सरकार ने गैस को साधारण पहुँच से बाहर करने के अनेकआयामी फैसले कर दिए हैं। यह प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री एवं राजनीतिज्ञ वित्तमंत्री के रहते हुआ है। दूसरी ओर सोनिया गांधी के दामाद राबर्ट बढ़रा पर हरियाणा सरकार से जमीन लेने की बात सामने आई है। यदि इसमें कानूनी प्रक्रिया के तहत कुछ भी गलत नहीं हुआ हो, तब भी राबर्ट पर ही क्यों हरियाणा सरकार मेहरबान रही, सिर्फ इतनी ही बात आज की राजनीति को समझने के लिए काफी है।

भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष नितिन गडकरी पर कारोबार से संबंधित आरोप अप्रत्याशित तो नहीं, पर नया जरूर है। इसे जानकर खास हैरानी नहीं होती, क्योंकि गडकरी जी मामूली आरोपों के घेरे में वैसे ही हैं, जैसे एक सफल कारोबारी और मंत्री-राजनेता द्वारा सामान्यतः किए जाते हैं। मंत्री पद पर रहते हुए शायद ही कोई होगा जिसने कुछ-न-कुछ अपने को लाभ न पहुँचाया हो। कारोबारी के लिए भी येन-केन प्रकारेण अपना हित साधना ही अभिप्रेत होता है। भाजपा की दुविधा है कि यह उसके राष्ट्रीय अध्यक्ष का मामला है। गडकरी जी से पहले अध्यक्ष पद को लेकर भाजपा द्वारा नया प्रयोग तब किया गया था जब दक्षिण भारतीय दलित बंगारू लक्ष्मण अध्यक्ष बने थे, लेकिन तहलका टेप के कारण उनकी व पार्टी की किरकिरी हुई और भाजपा के साहसिक प्रयोग का असमय नृशंस अवसान हो गया। उसके बाद जितने राष्ट्रीय अध्यक्ष बने, उनमें जैसे-तैसे राजनाथ सिंह को छोड़कर किसी ने अपना कार्यकाल पूरा नहीं किया। श्री राजनाथ सिंह ने अधिक कुछ न करके सबको संतुष्ट रखने की नीति अपनाते हुए कार्यकाल पूरा तो किया, पर इसके सिवा उनके जिम्मे कोई उपलब्धि नहीं रही। उल्टे उत्तर प्रदेश में भी पार्टी की दुर्गति न रुक सकी। दूसरी ओर नितिन गडकरी ने अध्यक्ष बनने के बाद अनेक फैसले किए, जिनमें कुछ विवादास्पद भी रहे; परंतु अटल-आडवाणी-जोशी के बाद फैसले लेने वाले मजबूत अध्यक्ष की छवि उनकी बनी, जिसकी लंबे अरसे से भाजपा को दरकार थी। गडकरी द्वारा 'साहसिक फैसले' के पीछे संघ का उन्हें भरपूर समर्थन कारण था, फलतः गुटबाजी भी उनका ज्यादा कुछ नहीं बिगाड़ सकी। लेकिन इधर जो आरोप लगे हैं, उनसे विरोधियों को मौका उपलब्ध हुआ है। संघ तथा भाजपा की दिक्कत यह है कि यदि उन्हें हटाती है तो नेतृत्व स्तर पर प्रयोगों की विफलता का पुनः गलत संदेश जाएगा कि अटल-आडवाणी जैसा अध्यक्ष पद को मर्यादा-गरिमा के साथ चलाने वाला कुशल राजनीतिज्ञ व्यक्ति अब भाजपा व संघ के पास नहीं है। इससे हानि की संभावना है। दूसरी ओर यदि उन्हें नहीं हटाती है तब अन्ना हजारे, अरविन्द केजरीवाल, पीवी रामाराव एवं स्वामी रामदेव के आंदोलन के समानांतर कांग्रेस के खिलाफ भ्रष्टाचार सहित किसी भी लड़ाई में सहूलियत नहीं होगी, लड़ाई की धार कमजोर पड़ेगी। इस प्रकार भाजपा के लिए हटाने-न-हटाने दोनों में नुकसान है, एक तरफ कुआँ तो दूसरी ओर खाई है। ✤